

bdkbz dh : i j s[kk

- 13.0 उद्देश्य
- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 'वैतरणी' कहानी का कथानक और मूल संवेदना
- 13.3 'वैतरणी' में दलित समाज की पीड़ा
- 13.4 'वैतरणी' में दलित जीवन और राजनीतिक दशा
- 13.5 'वैतरणी' में दलित हित और धार्मिक परंपरा का टकराव
- 13.6 'वैतरणी' में शिल्प और भाषागत विशेषताएँ
- 13.7 सारांश

13-0 mĩŕ ;

'वैतरणी' कहानी दलित लेखिका नीरा परमार की चर्चित कहानी है। कहानी डोम समाज की है, जो दलित वर्ग की एक उपजाति है, जिनके प्रमुख कार्य है श्मशान भूमि में शवदाह या दफन के लिए सामग्री तैयार करना है। लेकिन खुद जिन्दगी की बुनियादी ज़रूरत से वंचित बना रहता है। 'वैतरणी' मूलतः एक मिथकीय नदी का नाम है। हिन्दू धर्म में ऐसा माना जाता रहा है कि मृत्यु के बाद इसको पार करने के बाद ही व्यक्ति को मोक्ष मिलता है। लेखिका ने अपनी कहानी के माध्यम से इस मिथक को नया अर्थ दिया है। यह दर्शाया है कि मरना महत्वपूर्ण नहीं, बल्कि जीना और मानवीय गरिमा के साथ जीना अधिक महत्वपूर्ण है। इस कहानी के पात्र इसी गरिमा के लिए संघर्ष करते हैं। कहानी में 'चापाकल' की माँग वास्तव में अपने मानवीय अस्तित्व की माँग से जुड़ी हुई है। 'वैतरणी' जैसे मिथकीय नदी को एक प्रतीक के माध्यम से कहानीकार ने दलित जीवन के सपनों, ज़रूरत और उसके लिए किए गए संघर्ष को उकेरा है। यह कहानी दलित जीवन और राजनीति के संबंध को दर्शाती है। आजादी के बाद जिस राजनीतिक तंत्र पर दलितों के उत्थान का दायित्व था, वह अपने अंधविश्वास तथा परंपराओं के जाल में फँसकर दलितों की उपेक्षा करती है। कहानी के अध्ययन के पश्चात् आप:

- दलित कथा परंपरा से परिचित होंगे;
- वर्तमान राजनीतिक हालात और दलित दशा को समझ पाएँगे;
- मानवीय गरिमा के लिए दलित संघर्ष के तेवर को समझ सकेंगे।

13-2 ĀLrkouk

दलित स्त्री रचनाकार में नीरा परमार एक उभरता हुआ नाम है। दलित जीवन के दुःख, दर्द, शोषण, समाज और व्यवस्था द्वारा उपेक्षा इनकी कहानियों का बीज मंत्र है।

युवा कहानीकार नीरा परमार का जन्म 3 मई 1950 ई. को जालना, महाराष्ट्र में हुआ। उन्होंने हिन्दी में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की तथा वर्तमान में निर्मला महाविद्यालय, राँची में हिन्दी की प्राध्यापिका हैं।

नीरा परमार की कहानियाँ और कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती हैं। उनकी पुस्तक 'जंगल की आग' कविताओं का संग्रह है। इस लोकतांत्रिक समाज व्यवस्था में भेदभाव को दर्शाती इनकी कहानी 'वैतरणी' काफी चर्चित हुई है। वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था के द्वारा शुरू हुई गैर-बराबरी की व्यवस्था समाज में ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। इसी असमानता की मार्मिकता को दर्शाती है कहानी 'वैतरणी'। इसमें कहानीकार दलित जीवन के त्रास को बड़ी ही सहज भाषा में उकेरती हैं। कहानी अंत में वैचारिक और व्यावहारिक स्तर पर एक प्रश्न छोड़ जाती है – जो इसे पाठों से अलग करती हुई एक मार्मिक छाप छोड़ जाती है।

13-2 ^oŕj.kh^ dgkuh dk dFkkud vksj emy l onuk

नीरा परमार द्वारा लिखित कहानी 'वैतरणी' अपने कलेवर में छोटी ज़रूर है। लेकिन एक गहरी भावभूमि को विस्तार देती है। या यूँ कहें कि – 'देखन में छोटन लगे, घाव करे गम्भीर' जैसी उक्ति को चरितार्थ करती है।

कहानी के आरंभ में जेठ की गर्मी में श्मशान-भूमि के दृश्य के सजीव चित्रण के साथ ही थोड़ी दूर पर बसी डोम-बस्ती की बेहाली और एकाकीपन का जीवंत चित्रण भी बड़ी सहजता से किया है लेखिका ने। इस सूने वातावरण में हरकत तब होती है जब विधायक काशीनाम अपने बड़े भाई के दाह-संस्कार के लिए श्मशान घाट आते हैं। शवदाह सम्पन्न करने वाले मंगतूराम ने इस क्रियाकर्म से पहले इलाके के प्रभावशाली विधायक के सामने अपनी बस्ती की बदहाली पर ध्यान देने की हिम्मत जुटाई। तपती दोपहर में उसकी बस्ती की औरतों को मीलों दूर के गंदले पोखरे का पानी लाना पड़ता था। श्मशान-घाट की मरम्मत के लिए भी कई अर्जियाँ दी गई थीं, लेकिन कुछ नहीं हुआ। इस हिम्मत जुटाकर अपनी बात कहने के लिए मंगतूराम को विधायक के चमचों की ओर से गाली भी सुनना पड़ता है। विधायकजी जो शोक में डूबे आज माया-मोह, अंहकार से ऊपर उठ चुके थे, उन्होंने मंगतू से समस्या जानना उचित समझा, जिस पर मंगतूराम ने कहा – "साहेब, अब इस बस्ती में नहीं रहा जाता कहीं कोई सुनवाई नहीं, सरकारी दफ्तर में अरज़ी देते-देते गोड़ टूट गए। आप तो दयावान हैं, कुछ पानी का इन्तज़ाम हो जाता तो बस्ती के लोग असीस देते।" इस पर विधायकजी दरखास्त लेकर मिल लेने जैसा आश्वासन देते हैं, और अभी के दाह-संस्कार को निपटाने का संकेत देते हैं।

पहली बार इतना मीठा आश्वासन पाकर भोला मानस मंगतूराम विधायक जी को साक्षात् ईश्वर मान बैठा। साथ ही रोज-रोज के रोजी-रोटी वाले काम को भी आज बड़े श्रद्धा-भाव से निपटाया। निर्लिप्त भाव से मुर्दे जलाने की शिक्षा-दीक्षा उसे बाप-दादाओं से मिली थी। यह पेशा उसकी पसंद-नापसंद से नहीं जुड़ा था, बल्कि पीढ़ियों से चला आ रहा पेशा उस पर थोप दिया गया था। शायद कोई और काम कर पाने के लिए योग्यता अर्जित करने का उसे अवसर ही नहीं मिला। इस काम को वह बड़े निर्विकार भाव से करता है। केवल एक बार वह जीवन में मुर्दे को देखकर भावुक हुआ था – वह एक नन्हीं बच्ची की लाश थी, जो एक वहशी दरिंदे की हवस का शिकार हो गई थी।

मंगतूराम एक संवेदनशील व्यक्ति है, जिसके पास प्रबल यथार्थबोध है। यथार्थ का अर्थ विषमता के बोध से जुड़ता है। कहते हैं कि दुनिया विरोधी-युगलों से बनी है – लाभ-हानि, रात-दिन, शत्रु-मित्र, जय-पराजय और सबसे महत्वपूर्ण जीवन-मृत्यु। भारतीय समाज में इसे अमीर-गरीब के रूप में देख सकते हैं। मंगतूराम को शहर के अमीरों की चकाचौंध के बीच अपनी बस्ती में गरीबी का अंधेरा और भी गहरा नज़र आता है। इस दुःख से उबरने के लिए ही वे विधायक के पास चापाकल की प्रार्थना लेकर गया।

कुछ दिन बीत गए। विधायक जी भाई के अंतिम संस्कार से जुड़े सभी कर्मकाण्ड और रस्म पूरी कर चुके थे। इन सबसे ब्राह्मणवादी संस्कारों में उनकी गहन आस्था झलकती है। अब पुनः राजनीति की दिनचर्या पर वापस आने लगे थे। इधर मंगतूराम और उसके लोग चापाकल को लेकर चिन्तित थे। वे विधायक से मिलकर उन्हें औपचारिक दरखास्त देना चाहते थे, लेकिन दरबान उन्हें फटकने नहीं देता है। किसी तरह से सब विधायक के पास पहुँच जाते हैं। उन्हें दरखास्त पेश करते हैं। विधायकजी को तो पहले कुछ याद नहीं आया, लोगों ने जब श्मशानघाट पर हुई बात याद दिलाई, तब उन्हें ध्यान आ गया। लेकिन अब जगह और स्थितियाँ बदल चुकी थीं। बड़े भाई की मौत से उपजा नश्वरता बोध और वैराग्य भाव अब शांत हो गया था। वे अब पुराने घाघ राजनीतिज्ञ के रूप में वापस आ गए। वे मंगतूराम की बात पर सहानुभूति तो जताते हैं लेकिन उस पर तुरंत निर्णय नहीं लेते हैं। जब मंगतूराम और उसके लोग विधायक की सहानुभूति को सहमति समझ कर खुश हो जाते हैं – “मंगतूराम और साथ के लोगों की आँखें चमक उठीं। झुँझलाए दरबान और दूसरे लोग भी उन सबको गहरी नज़र से देखने लगे। मंगतूराम को बँगले में घुसने में जितना तनाव झेलना पड़ा था, अब वह बड़ी सहजता से गेट बंद कर चापाकल की तेज धार के मीठे सपने के साथ लौट गया।” लगा कि बस्ती वालों का सपना पूरा हो गया लेकिन कहानी एक नया मोड़ ले लेती है। ब्राह्मण का आगमन होता है। विधायक के पास राजनीतिक सत्ता है; कल यह सत्ता खत्म भी हो सकती है। लेकिन, ब्राह्मण के पास धार्मिक सत्ता है, जो सनातन काल से है। वह हर काल में राजनीतिक सत्ता का स्वाभाविक सहयोगी रहा है। फिर विधायकजी की बिसात क्या है? पण्डितजी को भी चापाकल की आवश्यकता है, लेकिन उनकी आवश्यकता जात-कुजात के स्पर्श से अपनी पवित्रता बचाए रखने की है। वर्ना पीने का पानी तो उन्हें मिल रहा है। वे चाहते हैं कि चापाकल उनके आँगन में लग जाय, ताकि पण्डितानी को सभी जाति के लोगों के साथ लाइन न लगानी पड़े। इस पवित्रता की रक्षा के एवज में वे असीस देंगे, जिससे विधायक के बड़े भइया वैतरणी पार कर जाएँगे, उनका उद्धार हो जाएगा। एक ओर चापाकल के लिए पूरी बस्ती है तो दूसरी ओर पण्डितजी। एक के पास लोकतंत्र का संख्या बल है, तो दूसरे के पास धर्म का बल है। कहानी अंत में खुलकर नहीं बताती लेकिन संकेत दे देती है कि फैसला ब्राह्मण के पक्ष में हुआ है। इस फैसले में धार्मिक वर्चस्व की जीत है और लोकतंत्र की हार है। कहानी ऐसे अंत के साथ धर्म के वर्चस्व और राजनीति की भेदभावपूर्ण नीति तथा दलितों, शोषितों, वंचितों के प्रति अवहेलना, संवेदनहीनता रवैये को स्पष्ट करती है। समाज के सबसे पिछड़े वर्ग की हताशा, निराशा और नकारे जाने के अहसास को महसूस किए जाने को संवेदनशीलता से उजागर करने में सक्षम है।

13-3 'वैतरणी' कहानी में डोम समाज की जिन्दगी को उभारा गया है। गाँव तो गाँव शहरों में भी दलित समाज की बस्ती अलग-थलग बसाई जाती है। यहाँ डोम समाज की बस्ती श्मशानघाट के इर्द-गिर्द सिमटी हुई है। इस घाट पर सभी लोगों का अंतिम क्रियाकर्म होता है; लोक से विदाई और परलोक प्रस्थान की तैयारी के लिए तरह-तरह के कर्मकाण्ड होते हैं। मृतक के परिजन के लिए यह भावुक क्षण होता है, लेकिन चिता सजाने वाला मंगतूराम इन सबसे मुक्त रहता है। मुर्दे जलाना उसका पेशा है, “मुर्दे को जलाना उसकी रोजी रोटी थी। जिस प्रकार नौकरी करने वाले के लिए अपने रोज-रोज के काम में व्यक्तिगत रुचि-अरुचि का सवाल नहीं होता, उसी प्रकार मंगतूराम के लिए भी रोज आने वाले मुर्दे से कोई खास सरोकार नहीं होता। उसने यह काम बाप-दादाओं से सीखा था।”

यह काम उसने अपनी पसंद-नापसंद के आधार पर नहीं बल्कि विरासत से पाया था। जाति प्रथा एक प्रकार का श्रम-विभाजन है, लेकिन परेशानी इस बात की है कि यह श्रम-विभाजन वंशानुगत हो जाता है। इस कारण मंगतूराम जैसे व्यक्ति के लिए अपनी पसंद का पेशा अपनाने की गुंजाइश नहीं रह जाती है।

‘वैतरणी’ कहानी में दलित बस्ती शहर का ही हिस्सा है, लेकिन इसमें परिवर्तन की कोई आहट नहीं है। आधुनिक शहर पूँजीवादी व्यवस्था के गढ़ होते हैं लेकिन पूँजीवादी गतिविधियों जैसे – उत्पादन, बाजार, विपणन यंत्र, उद्योग, व्यापार, शिक्षा, संचार आदि के निशान इस बस्ती में दूर-दूर तक दिखाई नहीं पड़ते हैं। यह बस्ती लगता है कि हजारों साल से ऐसी ही है और शायद आगे भी ऐसी ही बनी रहेगी। बदलाव ही किसी समाज में उसके रहन-सहन को नया प्राण, नया रूप देता है। शहर का बाकी हिस्सा इस बदलाव का साक्षी है – “एक तरफ ऊँचे-ऊँचे मकान, विशाल पानी की टंकियाँ, चौड़े रास्ते और सारी शहरी सुविधाएँ।” यह मुख्य शहर की तस्वीर है, जहाँ मध्य वर्ग और प्रभावशाली तबका निवास करता है। इस हिस्से में तरक्की के सभी निशान मौजूद हैं। इसके विपरीत दलित समाज की बस्ती का चित्र कुछ इस प्रकार है – “बस्ती के आस-पास कुछ सुअर चर रहे थे, दो-तीन कुत्ते भौं-भौंककर हलकान हुए जा रहे थे। बस्ती के पास में एक टूटा चापाकल गड़ा था। एक औरत दूर से सिर पर घड़ा लिए आती दिख रही थी।” मंगतूराम को अपनी बस्ती की दुनिया अकारण ही बदरंग तस्वीर नहीं लगती है। यह दुनिया इतनी ठहरी हुई क्यों है? इसमें सदियों का पुराना रूप क्यों झँकता है? इस बस्ती में जीवन का संगीत सुनाई क्यों नहीं देता है? इन बातों को ऐतिहासिक सामाजिक संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

आधुनिक भारत में शहरों का विकास विपणन स्थल और कल-कारखानों द्वारा वृहद उत्पादन केन्द्रों के रूप में हुआ जो उत्पादन वितरण और उपभोग के चक्र द्वारा मुनाफा कमाने की दिशा में काम करता है। इस काम में वह एक नई संस्कृति – ‘स्वतंत्रता की संस्कृति’ को जन्म देता है – सामंती ढाँचे के पितृतुल्य संरक्षण के आवरण में व्यक्ति के बंधन खोलकर उसे आजाद करता है। यह आजादी काम करने, अपना श्रम बेचने से लेकर अपना भविष्य बनाने तक की होती है। यह ऐसे स्वतंत्र बाजार का आधार बनाता है, जो व्यक्ति को धर्म-जाति, लिंग से परे क्रेता-विक्रेता के रूप देखता है। अपने इस आधार पर भारत जैसे सामंती समाज में परिवर्तनकारी भूमिका निभा सकता था, लेकिन निभा नहीं पाया। जाति प्रथा ने उसकी परिवर्तनकारी भूमिका पर ग्रहण लगा दिया।

भारत में कई आक्रमण हुए, युग बीते, तकनीक बदली लेकिन जाति प्रथा अक्षुण्ण बनी रही और इसने गाँवों का स्वायत्त ढाँचा बरकरार रखा। कार्ल मार्क्स जिसे एशियाई उत्पादन की प्रणाली का नाम देते हैं। इसमें जातियों और इनके श्रम विभाजन के द्वारा गाँव की ज़रूरत का समूचा उत्पादन पूरा हो जाता है।

‘कोरू नृप होऊँ हमें का हानि’

राजा शासन अथवा तंत्र कोई भी रहा गाँव और इसकी जाति प्रथा बेरोक-टोक बनी रही जिसे हिन्दू समाज की निरंतरता कहा जाता है, वह वास्तव में जातियों की जड़ता थी। ब्रिटिश आगमन के साथ पूँजीवाद और औद्योगिक सभ्यता आई ब्राह्मण और अन्य सक्षम जातियों ने इसका लाभ उठाया। लेकिन दलित जातियाँ इसके फायदों से वंचित रहीं। ‘वैतरणी’ कहानी में दलित समाज शहर में ज़रूर है लेकिन उसके ऊपर बंधन अभी भी गाँव के हैं, जाति प्रथा के हैं। यही वजह है कि मंगतूराम मुर्दे जलाने का काम करता है, अपनी इच्छा-अनिच्छा से नहीं, बल्कि पेशे की परंपरा से। शहर में पेशे और व्यवसाय की विविधता होती है लेकिन इस विविधता का फायदा शवदाह करने वाला डोम समाज शिक्षा,

ज्ञान अथवा धन के अभाव में लेने से भी वंचित रह जाता है। मंगतूराम को "युगों से जैसे एक ही रूप में ठहरा आस-पास उसे कचोटता है" उनके मन में कचोट उभरती है, जब बस्ती की तुलना में बाकी शहर को जगमग देखता है।

मुख्य शहर और इसके बाशिंदे डोम बस्ती को हिकारत की नज़र से देखते हैं। यह समाज अंतिम संस्कार की व्यवस्था का काम करता है, मेहनत की कमाई खाता है। इसके बावजूद मुख्यधारा के लोगों की उपेक्षा से अलग-थलग है। डॉ. आंबेडकर का प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू से कई मुद्दों पर मतभेद था। नेहरूजी अंतर्राष्ट्रीय मंच पर दक्षिण अफ्रीका में नस्लभेद और नस्लीय अलगाव का मुद्दा उठाने में लगे थे जबकि आंबेडकर का कहना था कि भारतीयों में जातीय भेद और जातीय अलगाव कहीं अधिक गंभीर समस्या है। अंतर्राष्ट्रीय से पहले राष्ट्रीय और बाहर से पहले घर की समस्या सुलझाना पहली प्राथमिकता होती है। 'वैतरणी' कहानी की डोम बस्ती इस अलगाव का मानो टोस उदाहरण है। इसी अलगाव के कारण इस बस्ती के विकास की शासन सत्ता द्वारा पूर्ण उपेक्षा की गई; जिसका परिणाम यह हुआ कि बस्ती की हालत कुछ यूँ है – "जेठ की धूप में श्मशान भूमि आँवे सी तप रही थी। कभी-कभी तेज़ हवा के झोंके में उड़ती धूल और इने-गिने पेड़ों का डोलना वातावरण को और भी एकाकी और सूना बना जाते।" इस दयनीय दशा को बाकी लोगों ने अपनी आदत में शुमार कर लिया है, लेकिन मंगतूराम ने नहीं। वह विषमता को देखता है। उसका गहरा यथार्थ बोध उसे बारबार अपनी बस्ती की दशा पर सोचने को बाध्य करता है। विषमता का बोध उसे कर्म की ओर बढ़ाता है। अपने समाज के कठोर जीवन के बीच उसके मन में कोमल कल्पना उभरती है, चापाकल की चाहत जगती है। खलील जिब्रान ने कामना के बारे में कभी कहा था – "आदमी की हकीकत और कल्पना के बीच एक फासला होता है और जो चीज इस फासले को भरती है, उसी का नाम कामना है।" डोम समाज भी अपने लिए सुविधाजनक पेयजल की कल्पना करता है, जबकि हकीकत यही है कि पेयजल के लिए उनकी बस्ती में गंदे तालाब और कीचड़ भरे कुएँ के अलावा कुछ भी नहीं है। औरतों को दूर-दूर से पानी भरकर लाना पड़ता है। हकीकत और कल्पना के बीच इस फासले को पाटने के लिए उनके मन में चापाकल की कामना जन्म लेती है। कई बार कामना आदमी में विपरीत दशाओं में जिंदा बने रहने का, आगे बढ़ने और कुछ करने का हौसला देती है। कवि पाश ने यूँ ही नहीं कहा है:

"बहुत खतरनाक होता है सपनों का मर जाना

..... न होना तड़प का –

और सब कुछ यूँ ही –

चुपचाप सह जाना"

चापाकल की कामना मंगतूराम को इसके लिए कोशिश करने का हौसला देती है। बात चापाकल की नहीं है, बल्कि महत्वपूर्ण बात अपनी जीवन दशाओं में सुधार की कामना करने की है।

प्रकृति ने मनुष्य को हवा, पानी जैसे नैसर्गिक उपहार दिए हैं। इनके उपभोग से मनुष्य गरिमा के साथ अपना जीवनयापन करता है। प्रकृति के वरदान के समान उपभोग का हर मनुष्य को अधिकार है। संयुक्त राष्ट्र ने अपने मानवाधिकार घोषणपत्र (1948) में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया – "सभी मनुष्य जन्म से ही गरिमा और अधिकारों की दृष्टि से समान हैं।" लेकिन यह विडम्बना ही है कि 'वैतरणी' कहानी में इस मानवाधिकार को

माँगना पड़ता है। कहानी में मुख्य पात्र का नाम मंगतूराम रखकर लेखिका ने इसी विडम्बना को दर्शाने का प्रयास किया है।

मंगतूराम के मन में चापाकल की कामना है। इसी प्रसंग में 'गोदान' में होरी के मन में गाय की तीव्र कामना का याद आ जाना स्वाभाविक है। गाय के लिए 'होरी' जीवनभर संघर्ष करता है। उसका संघर्ष सामंती ढाँचे के भीतर किसान का संघर्ष है। जबकि 'वैतरणी' में मंगतूराम की कामना और संघर्ष लोकतांत्रिक देश में बुनियादी आवश्यकता पूर्ति से जुड़ी है। होरी के लिए गाय पहले मरजाद और बाद में आवश्यकता है, जबकि मंगतूराम के यहाँ चापाकल पूरी बस्ती के लिए पहली बुनियादी ज़रूरत।

'गोदान' में होरी का दर्द है जीते जी उसे गाय का सुख नसीब न हो पाया; मरने के बाद भी गाय उसका पीछा नहीं छोड़ती है। पण्डित अंतिम संस्कार करवाते हुए आत्मा की शांति के लिए गोदान की माँग करता है। धर्म के ठेकेदारों द्वारा फैलाए अंधविश्वासों के द्वारा गरीब, अनपढ़ लोगों से हरसंभव पैसा लूटने की एक युक्ति यह भी है; पंडित कहता है कि होरी की आत्मा को वैतरणी से पार लगाने के लिए गोदान तो कराना ही होगा। अंतिम समय धनिया की कमाई भी वह झटक लेने में कामयाब हो जाता है।

धर्म और ब्राह्मणवाद का रचा हुआ झूठ कि धरती पर जिस व्यक्ति ने ब्राह्मण को गौ का दान किया है, उसी व्यक्ति को वैतरणी नदी के किनारे गाय उपलब्ध होती है जो उसे स्वर्ग भेजने में सहायक होती है। भय के कारण धर्म में विश्वास करने वाला वर्ग हमेशा इसी प्रभाव में वह सब कुछ करता है जो ब्राह्मण कहता है। 'वैतरणी' कहानी में भी लेखिका ने इसी मिथक का रचनात्मक प्रयोग किया है। कहानी में डोम समाज की चिंता वैतरणी पार करने के बजाय बस्ती में चापाकल लगवाने की है; परलोक में अपना उद्धार करने के बजाय इस लोक में अपना जीवन सुधारने की है। वे इसके लिए निरंतर प्रयास करते हैं – "सरकारी कागज में डोम-चमारों की दुनिया कितनी सुधर गई थी, लेकिन आज भी कोई उनकी बस्ती के लोगों को अपने आसपास फटकने देना नहीं चाहता था। उनके कुएँ, तालाब या नल के पास जाते ही पीढ़ियों की प्रतिहिंसा सर्द से आँखों से लपलपा उठती। इस श्मशानघाट की मरम्मत के लिए वे सब अर्जियाँ दे-देकर थक चुके थे, एक-एक बूँद के लिए तरसते-बिलखते रहे थे, लेकिन किसी ने ध्यान देना ज़रूरी नहीं समझा था।" ब्राह्मण दूसरों का परलोक सुधारता है, लेकिन हकीकत में डोम समाज का तो यह 'लोक' ही बर्बाद हुआ पड़ा है। जिस शहर की वे सेवा करते हैं उस शहर ने ही उन्हें नहीं अपनाया है। एक इन्सान की तरह बसाया नहीं है। इस बस्ती की पीड़ा कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि की इस कविता की तरह है –

"फसल ठाकुर की

पानी ठाकुर का

खेत-खलिहान ठाकुर के

गली-मुहल्ला ठाकुर का

फिर अपना क्या?

गाँव?

शहर?

देश?"

राजनीति के बारे में बाबा साहेब आंबेडकर ने कभी कहा था – “राजनीति के दो उद्देश्य होते हैं – शासन और संस्कृति का प्रसार” इसमें एक से शांति-व्यवस्था रहती है तो दूसरे से समाज में सुधार द्वारा सभी को उन्नति का अवसर मिलता है। ‘वैतरणी’ कहानी में डोम समाज अपनी जीवन दशाओं से निराश है। वह इसमें सुधार चाहता है। यह सुधार किसी हिंसा से नहीं बल्कि राजनीतिक उपायों से हासिल करने का प्रयास करता है। वह अपनी ज़रूरत के लिए अपने प्रतिनिधि से प्रार्थना करता है। क्या प्रार्थना को राजनैतिक चेतना का आद्य रूप कहा जा सकता है? अगर आप कांग्रेस पार्टी का आरंभिक इतिहास देखें तो उनके नेताओं का अधिकांश समय अंग्रेजों के सामने अपनी माँगों के लिए प्रार्थना पत्र देने में गुजरा है। प्रार्थना राजनैतिक चेतना नहीं है लेकिन इस चेतना का प्रस्थान बिन्दु अवश्य है। ‘वैतरणी’ कहानी में चापाकल की माँग भी एक प्रस्थान बिन्दु है, दलित समाज की राजनीतिक चेतना की पूर्व पीठिका है।

आज मध्यवर्ग के बीच राजनीति एक बदनाम पेशे की तरह है। समाज में सभी कमियों का ठीकरा राजनीति के ऊपर ही फोड़ा जाता है। क्या राजनीति समाज के सभी दोष की वजह है? गौर करें तो पाएँगे कि सदियों से विषमतापरक इस समाज में राजनीति ने समानता का कम-से-कम एक आधार तो दिया – एक व्यक्ति, एक वोट। चाहे राज भवन में रहने वाला राज्यपाल हो अथवा झुग्गी में रहने वाला मंगतू, दोनों के वोट का मूल्य समान है। वैतरणी कहानी में नेता काशीनाथ और उनका समाज दलित समाज को पसंद नहीं करता, लेकिन बर्दाश्त कर लेता है, क्योंकि मतदाता के रूप में उनके महत्व को वे इनकार नहीं कर सकते हैं।

दूसरा राजनीति के द्वारा ही ‘वैतरणी’ में दलित समाज अपनी समस्याओं को सुलझाना चाहता है। पेयजल के लिए हैण्डपम्प लगवाना चाहता है। वैसे तो यह काम प्रशासन द्वारा नियमानुसार कर दिया जाना चाहिए लेकिन शासन-प्रशासन में दलित अधिकारियों की उपस्थिति नगण्य है। गौर-दलित अधिकारी, दलित बस्तियों के उद्धार को बेमतलब का काम समझता है। इसलिए प्रशासन दलित बस्तियों की उपेक्षा करता है। दूसरा, आर्थिक रूप से दलित बस्ती के लोग अगर समर्थ होते तो वे पेयजल जैसी सुविधाओं के लिए स्वयं ही चापाकल की व्यवस्था कर सकते हैं। लेकिन पेशागत बंधन के कारण शवदाह के काम में इतनी आमदनी नहीं होती कि वे आर्थिक रूप से समर्थ हो सकें। यह असमर्थता ही उन्हें माँगने को मजबूर करती है। तीसरा वे अपनी ज़रूरतों के लिए माँगने के बजाय छीन सकते हैं, बगावत कर सकते हैं; लेकिन इसके लिए न्यूनतम रूप से चेतना और संगठन अनिवार्य होता है। अपनी जिन्दगी बचाने में ही जब उनकी पूरी ऊर्जा, उनका पूरा ध्यान लगा हुआ हो, तो कैसी चेतना, कैसा संगठन और कहाँ की बगावत?

इस प्रकार आर्थिक, प्रशासनिक और विद्रोह के तीनों रास्ते ‘वैतरणी’ की दलित बस्ती के लोगों के लिए लगभग बंद है। तब वे अपनी माँग लेकर राजनीति के रास्ते पर चलते हैं। दलित तथा अन्य वंचित जातियों में लोकतंत्र की राजनीति को शिद्दत के साथ अपनाया। ‘इकानामिक एण्ड पालिटिकल विकली’ में एक प्रश्न उठाया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लोकतंत्र तो दक्षिण और दक्षिण पूर्वी एशिया के अनेक देशों में पनपा लेकिन जल्दी ही उसे तानाशाही अथवा धार्मिक कठमुल्लों ने उखाड़ फेंका, लेकिन भारत में यह क्यों कायम रह गया? इसका उत्तर हमें कहानी की दलित बस्ती ही दे देती है जैसा ऊपर बताया गया है कि मुक्तिकामी भूमिका के कारण भारत में निम्न जातियों ने लोकतंत्र की राजनीति को अपने मनःमस्तिष्क में बसा लिया। वे सैकड़ों कोस दूरी तय करके अपने नेताओं की रैलियों में जाते, मतदान करते और चुनाव को उत्सव बना देते

हैं, लोकतंत्र का उत्सव। इस सक्रिय भागीदारी के कारण ही आपातकाल भी टिक नहीं पाया और उसे चुनाव-लोकतंत्र को रास्ता देना पड़ा। जबकि पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल आदि में राजनीति में भागीदारी प्रायः मध्य वर्ग और उच्च वर्ग की रही। पाकिस्तान में प्रायः सभी बड़े नेता सामंती घरानों से जुड़े थे। भारत में जातियों द्वारा आम जनता राजनीति में सक्रिय रही, लेकिन पड़ोसी देशों में आम जनता उदासीन रही। ऐसी उदासीनता के कारण लोकतंत्र उत्सव नहीं चुनाव का तमाशा बन कर रह जाता है। कोई ऐसे लोकतंत्र को उखाड़ फेंके तो इसमें आश्चर्य क्या? लेकिन भारत में जाति और राजनीति के जटिल रिश्ते ने लोकतंत्र की जड़ों को इतना मजबूत किया कि इसे उखाड़ना किसी के बूते के बाहर था।

अब सवाल यह उठता है कि यदि निम्न कही गई जातियों ने लोकतंत्र में ऐसा योगदान दिया तो लोकतंत्र ने उनको क्या दिया? ऐसा ही सवाल मंगतूराम के मन में उठा होगा, जब वह अपने लोगों के साथ क्षेत्र के विधायक के पास जाता है – “साहेब अब इस बस्ती में नहीं रहा जाता। पानी लाने के लिए सबको दूर-दूर जाना पड़ता है। चापाकल भी टूटा पड़ा है, कहीं कोई सुनवाई नहीं, सरकारी दफ्तर में अर्जी देते-देते गोड़ टूट गए।” ऐसे तो लगता है कि लोकतंत्र की पालकी में कोई और सवार है, दलित जातियाँ तो उसको बस ढो रही हैं। सदियों की सामाजिक व्यवस्था का बोझ क्या लोकतंत्र में भी खत्म नहीं होगा? कवि कुँवर नारायण के शब्दों में कहें तो –

“काँधे धरी यह पालकी

है किस कन्हैयालाल की

इस गाँव से उस गाँव तक

नंगे बदन फेंटा कसे

बारात किसकी ढो रहे

किसकी कहारी में फँसे?”

इस सवाल का जवाब इतिहास में देखा जा सकता है। आजादी मिलने के बाद सत्ता अभिजन के हाथ में आई। दलितों के नायक बाबा साहेब आंबेडकर चुनावी गणित में इनसे जीत नहीं पाए। लेकिन उनकी कोशिशों ने लोकतंत्र की राजनीति में दलित चेतना के बीच देश भर में फैला दिए। कांग्रेस में बिखराव के बाद दलित और अन्य क्षेत्रीय राजनीति का उभार हुआ। “वोट हमारा राज तुम्हारा नहीं चलेगा” के नारे के साथ दलित समाज राजनीति के रंगमंच पर मुख्य भूमिका में उभरा। ‘वैतरणी’ कहानी में राजनीतिक दशा इससे पूर्व की अवस्था की है। इसमें विधायक की सामाजिक पहचान का उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन उसके व्यवहार, प्रतिमान और मूल्यों से संकेत मिलता है कि विधायक काशीनाथ गैर-दलित और गैर-ब्राह्मण है। संभवतः मध्यवर्ती जाति का है। वह किसी प्रकार की सामाजिक प्रतिबद्धता नहीं दर्शाता और न ही जनबल, जनहित की अधिक परवाह करता है। ब्राह्मणवादी संस्कारों का पालन करते हुए वह लोकतंत्र का नहीं बल्कि सामंती सभ्यता का प्रतिनिधि अधिक लगता है, जनबल से अधिक भरोसा शायद उसे बाहुबल पर है। अन्यथा वह एक पूरी बस्ती की बुनियादी आवश्यकता को नज़रअंदाज करते हुए चापाकल के लिए एक ब्राह्मण की कर्मकाण्डीय आवश्यकता को तरजीह नहीं देता, लोक को छोड़कर परलोक की चिंता नहीं करता। यहाँ दोष राजनीति का नहीं राजनीति में पल रहे गलत प्रतिनिधि के गलत चुनाव का है। बाबा साहेब आंबेडकर ने ऐसे खतरे के बारे में पहले से आगाह किया था – “यदि हमारे सही प्रतिनिधि विधानसभा और

संसद के लिए नहीं चुने गए तो हम लोग अपनी आजादी का सही ढंग से उपयोग नहीं कर पाएँगे हमारे सही प्रतिनिधि संसद और विधानसभा में होंगे तो उसी से अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा मिलेगी, सिर्फ उसी से हमारी गरीबी दूर होगी। और सिर्फ उसी से हम लोगों को जीवन में बराबरी का हक मिल सकता है।” डॉ. आंबेडकर आधुनिक जीवन में राजनीति को ‘मास्टर की’ मानते थे। इसी से सभी समस्याओं के समाधान का रास्ता निकल सकता है।

कहने का आशय है कि लोकतंत्र में ही नहीं सत्ता में भी दलित समाज की भागीदारी जरूरी है। डॉ. आंबेडकर ने गुणभेद और जातिभेद का गहन विश्लेषण किया, जिनके अनुसार लोकतंत्र का आधार वाक्य है – “सभी मनुष्य जन्म से ही गरिमा और अधिकारों की दृष्टि से समान हैं। उन्हें प्रकृति द्वारा विवेक और अंतश्चेतना प्रदान की गई।” इसी के आधार पर संविधान में कानून के सम्मुख सभी व्यक्तियों को बराबर माना गया है।” लेकिन यह बात हमारे देश में व्यवहार में लागू नहीं हो पाती। कानून समानता की बात अक्सर सामाजिक स्तर पर दम तोड़ती है। वहीं कानून के समक्ष भी समानता को हम अक्सर दम तोड़ते हुए देखते हैं जब बड़े अपराधी कानून के संरक्षण में घूमते हैं। व्यवहार में जाति और गुणभेद के कारण कानूनी असमानता बरकरार है। समान कह देने भर में समानता नहीं आ जाती, खासकर तब जब परिस्थितियों में भारी असमानता हो। जातीय भेदभाव के कारण गुणों में बहुत अंतर आ जाता है। ‘वैतरणी’ कहानी में दलित बस्ती जातीय अलगाव के कारण गुणों के स्तर पर बहुत पीछे छूट गई है – “वह इसी तरह अभावग्रस्त टूटी-फूटी बस्ती में चरते सुअरों के बीच मुर्दे जलाते हुए उड़ती धूल और श्मशान के वीराने में रहता है, रहता रहेगा। दुनिया कहाँ-से-कहाँ निकल जाएगी, लेकिन उसकी दुनिया फ्रेम में जड़ी एक बदरंग तस्वीर की तरह इसी प्रकार जड़ और ठहरी हुई रहेगी।”

इसलिए राजनीतिक दशा में समानता और दलित समाज के उत्थान के लिए दलित चिंतकों ने शिक्षा और ज्ञान के महत्व पर जोर दिया है, ताकि जातिभेद के साथ गुणों के भेद को समाप्त किया जा सके। तभी किसी मंगतूराम को अपना बुनियादी अधिकार किसी काशीनाथ से माँगना नहीं पड़ेगा। दलित समाज एक चापाकल की ही नहीं बल्कि गरिमामय जीवन की माँग करेगा, ताकि उसके दुनिया की तस्वीर बदरंग नहीं सतरंगी हो।

दलित समाज के इस बदरंग-बदहाली की जिम्मेदार शासन-व्यवस्था में नेताओं ने ही पहली भूमिका निभाई। वर्ना विधायक इस अभावग्रस्त बस्ती में चापाकल तो क्या कई अन्य सहूलियतें मुहैया करा सकते थे। इसे ही लक्ष्य कर मंगतूराम के मुँह से व्यंग्यपरक वाक्य को सिफारिशी लहजे का जामा ओढ़ाकर लेखिका कहलवाती हैं – “नेताजी, आप चाह देंगे तो चापाकल मुर्दाघाट में तो क्या नरक में भी लग जाएगा, खाली कृपा दृष्टि होनी चाहिए।” आजादी के इतने वर्षों बाद भी दलित समाज की बदहाली का मूल कारण नेताओं की यही उदासीनता है। सुविधाएँ मुहैया कराने के पीछे उनके यही ‘चाह देने’ और ‘न चाहने’ के पीछे की राजनीति को भी समझना होगा।

13-5 ^oŕj .kh^ eanfyr fgr vkj /kkfebd i jã jk dk Vdjko

‘वैतरणी’ का मिथकीय आशय मोक्ष अथवा मुक्ति से है यानी कर्मफल से, जरा-मरण से मुक्ति। लेकिन कहानीकार नीरा परमार की कहानी ‘वैतरणी’ में आध्यात्मिक मुक्ति नहीं वरन् शोषण से मुक्ति की कामना है। यह मुक्ति उस धार्मिक परंपरा से भी है, जो शोषण और भेदभाव को धार्मिक कर्तव्य के रूप में मानती है। वास्तव में हिन्दू धर्म तात्त्विक रूप

से अपराजेय धर्म है। यह 'सर्वाभूति एक आत्मा' का महान आदर्श रखता है, अर्थात् 'सभी प्राणियों में एक आत्मा', लेकिन व्यवहार में यह इसके विपरीत जाति प्रथा का आचरण करता है। व्यवहार में कुछ जातियों को देवता तो कई जातियों के लिए पशुवत् और उससे भी बदतर आचरण का विधान किया गया। अन्य धर्मों के अनुसार ईश्वर ने इन्सान को बनाया, जबकि हिन्दू धर्म के अनुसार ब्रह्मा के शरीर से इन्सान नहीं जातियों की उत्पत्ति हुई। तब ऐसे धर्म में भेदभाव स्वाभाविक धार्मिक कर्तव्य का दर्जा हासिल कर लेता है। कहानी में डोम समाज इसी धार्मिक भेदभाव और उसके द्वारा मान्य सामाजिक भेदभाव का शिकार बनता है। इस बस्ती को एक चापाकल की आवश्यकता है। इसकी ज़रूरत पूरी बस्ती और डोम समाज को है, उन्हें अपना जीवन बचाए रखने के लिए। उनकी यह आवश्यकता अपने स्वरूप में सार्वजनिक है। वहीं ब्राह्मण को भी चापाकल की आवश्यकता है लेकिन जीवन बचाने के लिए नहीं बल्कि छूत-अछूत की अपनी धार्मिक पवित्रता बचाने के लिए।

इस आवश्यकता को पूरा करने की क्षमता इलाके के प्रभावशाली नेता काशीनाम के पास है। लेखिका ने उनकी जाति या धार्मिक मान्यताओं का उल्लेख नहीं किया है लेकिन वह अपने जीवन में ब्राह्मणवादी मान्यताओं के अनुसार जीता हुआ दिखाया गया है। कहानी के आरंभ में उसके मृत भाई का अंतिम संस्कार होता है। वह गोदान, ब्रह्मभोज, जैसे सनातन संस्कारों का पूरी निष्ठा से पालन करता है। यह बहुत उपहास भरा है कि समाज में कितने लोगों को कायदे की जिन्दगी भी मयस्सर नहीं, लेकिन इन जिन्दा लोगों के बजाए मर चुके लोगों की भलाई की चिंता की जा रही है। अर्थात्, जो मिट गया है उसका भविष्य बनाने के लिए गोदान हो रहा है, वैतरणी पार कराई जा रही है, लेकिन आसपास में जो जिन्दा लोग हैं उनकी अनदेखी की जा रही है। सहज बोध को खटकने वाली यह बात भी धार्मिक मान्यता के द्वारा पुष्ट होकर समाज में प्रचलित हो जाती है। समूचा दलित साहित्या ऐसी धार्मिक परंपरा को नकारता है। वह इसके स्थान पर सहज विवेक की स्थापना करता है। कबीरदास जब कहते हैं –

“पंडित वाद बदन्तो झूठा
राम कह्या दुनिया गति पावै,
खांड कह्या मुँह मीठा”

अगर राम कहने भर से मुक्ति मिल जाती है तो मिश्री कह देने से मुँह मीठा भी हो जाना चाहिए। इसी विवेक की स्थापना 'वैतरणी' कहानी के माध्यम से की गई है। लेकिन इसकी तर्क का ढर्रा लोकतंत्र की प्रेरणा पर है, धर्म की नहीं।

एक ओर डोम समाज का हित है तो दूसरी ओर उस परंपरा का हित है, जिसने विधायक काशीनाम के भाई की अंत्येष्टी करवाई है और परंपरा की माँग को पूरा करना इस अंत्येष्टी संस्कार का हिस्सा है। एक सार्वजनिक हित है दूसरा निजी हित एक के लिए वह बुनियादी आवश्यकता है, दूसरे के लिए अतिरिक्त आवश्यकता है। लोकतंत्र का पक्ष यह होगा कि डोम समाज की बुनियादी आवश्यकता और इसके सार्वजनिक रूप को देखते हुए सार्वजनिक धन का चापाकल इस बस्ती में लगना चाहिए। वहीं हिन्दू धार्मिक मान्यता का पक्ष यह होगा कि ब्राह्मण को शुद्धता तथा पवित्रता को बनाए रखने का अधिकार है। उसके इसी विशेषाधिकारों के मद्देनज़र चापाकल ब्राह्मण के आँगन में लगवाने की सिफारिश विधायक की पत्नी करती है। कहानी का अंत संकेत देता है कि यही हुआ भी।

यह धर्म की जीत और लोकतंत्र की हार है। जिस देश में लाखों लीटर दूध, जो भूखे बच्चों के काम आ सकता था, पत्थर की मूर्तियों पर चढ़ाया जाता हो, वहाँ लोकतंत्र के विवेक और समझदारी की जीत एक कल्पना हो सकती है – वास्तविकता नहीं। इसी तथ्य को प्रकारान्तर से दर्शाकर कहानी अपना अंत सार्थक बनाती है।

समाज अपने सदस्यों की भलाई के लिए अपने संसाधनों के इस्तेमाल के लिए निर्णय लेता है। उदाहरण के लिए, उपलब्ध दूध पर पहला अधिकार गर्भवती महिला और दूसरा अधिकार बच्चों का होना चाहिए क्योंकि उसकी आवश्यकता उन्हें ही सर्वाधिक है। लेकिन जब इस दूध से मंदिर की मूर्तियों को क्षीर-दुग्ध स्नान करवाया जाता है और लोग इसे हर्ष और श्रद्धा के साथ जय-जयकार करते हैं तो तार्किक रूप से यह विवेकपूर्ण नहीं होगा। लेकिन इस विवेक विरोधी कर्मकाण्ड को धार्मिक मान्यता द्वारा आश्रय मिलता है। धर्म की तमाम भूमिकाओं में एक भूमिका लोगों के विवेक और सामान्य समझदारी पर पर्दा डालने की भी होती है।

कहानी में ब्राह्मण, राजनेता काशीनाम के विवेक पर पर्दा डाल देता है। वह कहता है – “एक चापाकल हमारे आँगन में लग जाता। पण्डितार्जन को जात-कुजात के बीच पानी भरने जाना पड़ता है।”

जात-कुजात के बीच भेद करना ब्राह्मण का सदियों से चला आ रहा धार्मिक कर्तव्य है और अपनी पवित्रता को बनाए रखना वह अपना धार्मिक अधिकार मानता है। इस अधिकार के लिए वह तमाम प्रकार के कर्मकाण्डों का सहारा लेता है। ये कर्मकाण्ड अस्थिरता, विप्लव, मृत्यु तथा अनवांछित दशाओं में व्यक्ति को शान्ति और स्थिरता प्रदान करते हैं। जैसा कि कहानी में दर्शाया गया है ‘श्राद्ध में उन्होंने काफी खर्च किया था। बड़े भाई के पीछे गो-दान, सोना-दान, ब्रह्म-भोज, सब संबंधी परिजनों को खिलाने वगैरह में कोई कमी नहीं रखी थी उन्होंने। अवसाद अब धीरे-धीरे कम हो रहा था।’ यह कर्मकाण्डों की सकारात्मक भूमिका यहीं पर आकर दम तोड़ देती है। इसके बाद उसकी विध्वंसक भूमिका शुरू हो जाती है। यह पवित्र और अपवित्र में भेद को विधान करने लगती है, जो आगे चलकर जातियों के छूत-अछूत विधान में बदल जाता है। कालांतर में यह भेदभाव सामाजिक जीवन में असमानता की वजह बन जाता है। वैतरणी कहानी में मंगतूराम को यह असमानता बार-बार खटकती है। जब बाहर की दुनिया की तुलना में अपनी बस्ती उसे बदरंग तस्वीर की तरह लगती है – “एक तरफ ऊँचे-ऊँचे मकान, विशाल पानी की टंकियाँ, चौड़े रास्ते और सारी शहरी सुविधाएँ वह इसी तरह अभावग्रस्त टूटी-फूटी भिनकती बस्ती में, चरते सुअरों के बीच, मुर्द जलाते हुए, उड़ती धूल और श्मशान के वीराने में रहता रहा है, रहता रहेगा। दुनिया कहाँ-से-कहाँ निकल जाएगी, लेकिन उसकी दुनिया फ्रेम में जड़ी एक बदरंग तस्वीर की तरह इसी प्रकार जड़ और ठहरी हुई रहेगी।”

यह असमानता प्रकृति नहीं बल्कि व्यवस्था और ब्राह्मणवादी परंपरा की देन है। कर्मकाण्ड, बलि, दाह, यज्ञ-हवन, स्वर्ग-नरक, मोक्ष-दान आदि जैसी ब्राह्मणों द्वारा दी गई परंपरा ने भारतीय समाज की समझ पर कब्जा जमा लिया।

इसी मंगतूराम ने बौद्ध धर्म के अहिंसा और करुणा संबंधी विचारों को विकृत किया। वैष्णवों ने तो अहिंसा को इतना हास्यास्पद बना दिया कि वह व्यवहार योग्य भी नहीं रही। करुणा के बीज भाव को सनातन धर्म ने पशु-पक्षियों तक सीमित कर दिया। आज के समय में ऐसे भक्त भी हैं जो सुबह चींटियों के बिल के पास आटा डालना नहीं भूलते, इस बात से बेखबर रहते हुए कि दुनिया के लगभग तीन-चौथाई भूखे लोग भारत में रहते हैं। करुणा एक उदात्त भाव जो किसी को मुकम्मल इंसान का दर्जा देता है। लेकिन धर्म के पाखण्ड ने डोम समाज को इस भावना के काबिल नहीं समझा।

बस्ती का दलित समाज सभी जातियों के श्राद्ध-कर्म को तत्परता से करता है। दूसरी ओर ब्राह्मण भी श्राद्ध कर्म के कर्मकाण्ड सम्पन्न करता है। लेकिन, एक ही कर्म से जुड़ने के बावजूद एक सामाजिक सोपान में सबसे ऊपर है, तो दूसरा सबसे नीचे यही वर्ग और वर्ण का भेद है। जैसा बाबा साहेब आंबेडकर ने कहा था – “वर्ग व्यवस्था अगर श्रम विभाजन है तो वर्ण व्यवस्था श्रमिकों का विभाजन है।” वर्ग का आधार आर्थिक है तो वर्ण का आधार धार्मिक है। कार्ल मार्क्स ने कभी धर्म की तुलना अफीम से की थी। अफीम व्यक्ति को वास्तविकता से दूर कर देती है। सनातन धर्म उच्च धरातल पर सभी आत्माओं की समानता की बात करता है – एकात्म मानववाद की बात करता है। लेकिन दलित समाज को अध्यात्म में नहीं, व्यवहार में, जीवन में समानता की आवश्यकता है। वह बुनियादी सुविधाएँ, समान शिक्षा व ज्ञान चाहता है। ऐसे में धर्म उसके खिलाफ है, सनातन धर्म अवर्ण जाति की बदहाली को पूर्व कर्मों का फल मानता है। अब पूर्व कर्मों का फल है, नियति का विधान है तो मानवीय प्रयास और सामाजिक न्याय द्वारा उत्थान के लिए गुंजाइश भी कहाँ बन सकती है – ऐसी सोच ‘सनातनी सोच’ कहलाएगी। मानवतावाद इसके ठीक विपरीत सबके लिए बराबरी की माँग लेकर उठेगी। दलित चिंतक कंपल भारती दलित संवेदना और उनकी नई चेतना, नए बोध को कुछ इस प्रकार उजागर करते हैं – “मेरे परदादा मर गए जूठन खाते उतरे चिथड़े पहनते/खेत बोते-जोतते/इसे पूर्व जन्मों का फल मानते-मानते/ और जमींदार फूलता गया/फलता गया/जमींदार का वंश बढ़ता गया। आकाश बेल की तरह इनका खून चूसते-चूसते/धर्म का भय दिखाकर नीचे कर्मों का फल बताकर/पर अब मैं पूर्व जन्म नहीं वर्तमान देखता हूँ।

डॉ. आंबेडकर ने सनातन धर्म की इसलिए आलोचना की। इस धर्म में दलितों को अस्पृश्यता और बदहाली के सिवाय कुछ नहीं मिला है। दलितों को ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो उनको मानवीय गरिमा तथा समानता का दर्जा उपलब्ध कराए। उन्होंने जोर देकर कहा – “हिन्दू धर्म में जन्म लेना या न लेना मेरे वश में नहीं था, लेकिन मैं हिन्दू रहकर मरना नहीं चाहूँगा।”

मंगतूराम और डोम समाज अपनी बदहाली को नियति का विधान मानने से इंकार करता है। इसे पता है गैर-बराबरी की दशाएँ प्रकृति ने नहीं बल्कि इन्सानों ने ही बनाई हैं। वे इसे सुधारने की कोशिश करते हैं, विधायक से मिलते हैं। उनका यह मानवीय उद्यम धार्मिक मान्यता के विपरीत उनकी लोकतंत्र में आस्था का परिचायक है। उन्होंने अपनी मुक्ति के लिए धर्म को नहीं लोकतंत्र को चुना। भले ही फौरी तौर पर उनकी समस्या का समाधान लोकतंत्र में नहीं हो पाया, लेकिन इसके उत्तरदायी वे लोग हैं जिनके हाथ में लोकतंत्र का झंडा है।

कहानी का अंत दलित समाज के लिए इस झण्डे को अपने हाथ में लेने की आवश्यकता की ओर इशारा करता है।

13-6 ^{oſrj.kh} eaf'kYi vkſ Hkk"kkxr fo'kſ'krk, j

नीरा परमार की कहानी ‘वैतरणी’ में दलित समाज की विडम्बना को दिखाया गया है। कहानी में क्या कहा गया है, इसे अन्तर्वस्तु कहते हैं और किस तरह कहा गया है, इसे शिल्प कहते हैं। दोनों अलग होते हुए भी एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। ‘वैतरणी’ कहानी का आरंभ बिम्बात्मक शैली में हुआ। इसमें लेखिका का उद्देश्य डोम बस्ती की वास्तविकता प्रस्तुत करना था – “अभी दिन के ग्यारह ही बजे थे। जेठ की धूप में श्मशान भूमि आँवे सी तप रही थी। बस्ती के आसपास कुछ सुअर चर रहे थे, दो-तीन कुत्ते भौंक-भौंककर हलकान हुए जा रहे थे।” सभी वाक्य मिलकर एक बिम्ब प्रस्तुत कर रहे

हैं। अलग-अलग चाक्षुष बिम्ब डोम बस्ती को जीवंत रूप से उपस्थित कर रहे हैं। यह दुनिया गरीबी की है, जेहालत की है। इसमें लोग अमानवीय हालत में रह रहे हैं। उनका जीवन पशुओं जैसा ही हो गया है।

लेखिका ने इनमें से कोई भी बात इन पंक्तियों में नहीं कही। इसके बावजूद पाठक उनका आशय समझ जाता है कि बस्ती की क्या दशा है। वहाँ सिर्फ गरीबी और जेहालत है। अगर वह इसे सीधे-सीधे कह देती तो यह अखबारी रिपोर्ट होती, एक अच्छी कहानी अथवा अच्छा साहित्य नहीं। इस बिम्ब में सूअर चर रहा है सूअर कहाँ चरता है? कूड़े के ढेर में, गंदगी में। ये चीजें डोम बस्ती की दुनिया का अंग हैं। कुत्ता आदमी का वफादार, उनकी उपस्थिति को सहन नहीं करता है, भौंक कर अपनी नापसंदगी जाहिर कर रहा है। आभिजात्य समाज की सभ्य दुनिया में तो आदमी अपनी कॉलोनी, अपनी जगह में पशु अपनी जगह पशुशाला में रहता है, लेकिन डोम समाज की बस्ती में सभ्यता के ये तौर-तरीके आपस में गुडमुड हो गए हैं। आदमी, कुत्ता, सुअर सभी इकट्ठे ही हैं, एक दूसरे के साथ, एक-दूसरे को बर्दाश्त करते हुए जी रहे हैं। इस पूरे दृश्य को बिम्ब के माध्यम से लेखिका ने बस्ती के पूरे भूगोल को सामने खोलकर रख दिया है। अकारण नहीं है कि नामवर सिंह कहानी की सार्थकता छोटे मुँह से बड़ी बात करने में मानते हैं। यहाँ भी लेखिका ने कुछ वाक्यों में बहुत कुछ कह दिया है।

अगली पंक्ति में "बस्ती के पास टूटा चापाकल गड़ा था। एक औरत दूर से सिर पर घड़ा लिए आती दिख रही थी।" यह बस्ती शहर का अंग है लेकिन ऐसा अंग जहाँ कुछ भी सही ढंग से काम नहीं कर रहा है। शहर का स्वभाव उसकी गतिशीलता होती है। गाड़ियाँ, मशीनें कार्य-व्यापार और यहाँ तक कि आदमी की चाल में भी तेजी होती है। जरा शहर के आगे गाँव की जिन्दगी कवि केदारनाथ सिंह के शब्दों में देखिए तो वहाँ –

"धीरे-धीरे उड़ती है धूल

धीरे-धीरे चलते हैं लोग

धीरे-धीरे बजते हैं घंटे

शाम धीरे-धीरे होती है।"

लेकिन श्मशान भूमि की बस्ती, शहर में बसने के बावजूद गति से, विकास से वंचित है। शहर की सुविधाएँ और यंत्र भी जड़ हैं, खराब हैं। यंत्र का सहारा नहीं रहा तो मनुष्य अपने पुरुषार्थ से अपनी आवश्यकताएँ पूरी करता है। टूटे चापाकल के आगे घड़ा लेकर आती स्त्री इसी पुरुषार्थ को दर्शाती है।

नीरा परमार ने दलित जीवन शिल्प में सहजता से प्रस्तुत किया है। उनकी कहानी में कमरे में धूप खरगोश की तरह नहीं आती और न ही मूसलाधार बारिश पानी की दीवार बना जाती है। दलित कथा साहित्य का शिल्प ऐसे ऊँचे दर्जे की कल्पना का मोहताज नहीं है, जिसको पढ़कर गुणी पाठक वाह-वाह कर उठे। दलित साहित्य अनुभूति का साहित्य है। इनके अनुभव के दायरे में इतना कुछ उपस्थित है कि उन्हें ऊपर की बानगी में उपस्थित आकाश फोड़ और पातालफोड़ कल्पना की आवश्यकता ही नहीं है। दलित जीवन में प्रायः अभाव की दशाएँ हैं, जो भाव की अहमियत पैदा करती हैं। जो भूख के दर्द से गुजरा हो, खाने के स्वाद को तरसा हो, जो सूखे को सहन कर चुका हो – वह रस एक एहसास को औरों की तुलना में कहीं ज्यादा शिद्दत से महसूस कर सकता है। 'दूसरी परंपरा की खोज' में आलोचक नामवर सिंह सवाल करते हैं कि साहित्य में

वैचारिक उत्कृष्टता और कलात्मक उत्कृष्टता में विलोम का संबंध क्यों है? अथवा यह कह सकते हैं कि भक्ति आंदोलन में निर्गुण संतधारा विचार के स्तर पर जोरदार तथा कलात्मक रूप से कमजोर है; जबकि बाद की सगुण भक्तिधारा विचार के स्तर पर छीजती चली गई और कलात्मक चमत्कार के स्तर पर उत्तरोत्तर मजबूत होती चली गई। इस प्रश्न का उत्तर शायद दलित साहित्य के विश्लेषण से मिल सकता है। अभाव की जीवन दशाओं के कारण दलित समाज भाव सम्पदा के रूप में बहुत सम्पन्न है। 'वैतरणी' कहानी में देखें तो इसमें कितने प्राणी, कितने कार्य-व्यापार हैं। दलित जीवन में सदी, गर्मी, बरसात अपने प्रचण्ड रूप के साथ प्रहार करते हैं, जबकि उच्च वर्ग अपनी तमाम सुविधाओं के साथ इन परेशानियों से महफूज रहता है। जिसने जीवन में चुनौतियों के सभी रूपों – आर्थिक, सामाजिक, वातावरणीय, सभी चुनौतियों का सामना किया हो उसकी भाव सम्पदा का कोष कभी रिक्त हो सकता है? तब उसे अनावश्यक रूप से कल्पना का घोड़ा दौड़ाने की क्या ज़रूरत है? कहानी में धूप के टुकड़े को खरगोश बता देना अगर आचार्यों की नज़र में कलात्मकता है तो दलित सौन्दर्यशास्त्र ऐसी कलात्मकता को शायद ही मान्यता दे। उसकी रचना के शिल्प की पड़ताल के मानक आचार्यों के परंपरागत मानकों से कहीं भिन्न है।

कहानी में बोलचाल की भाषा का प्रयोग हुआ है, लेकिन यह ज़बान सपाट नहीं सर्जनात्मक है – 'उड़ती धूल और इने-गिने पेड़ों का डोलना वातावरण को और भी एकाकी और सूना बना जाते,' 'मीलों दूर एक गंदले पोखर से पानी लाती', 'दुनियावी चिन्ताएँ घर रही थीं', 'मंगतू को बँगले में घुसने में जितना तनाव झेलना पड़ा था, अब वह बड़ी ही सहजता से गेट बंद कर चापाकल की तेज़ धार के मीठे सपनों के साथ लौट गया" जैसे वाक्य लेखिका की सर्जनात्मक क्षमता से हमारा परिचय कराते हैं। वहीं दूसरी ओर इनकी कहानी में सहज बोलचाल की बानगी कुछ यूँ है – 'टूटा चापाकल गड़ा था', 'निराश मन में आशा हरियाई', 'बस्ती के लोग असीस देते', 'कुछ फटेहाल बच्चे भी जमा हो गए,' 'चापाकल के लिए बिनती की थी', 'गला घुटकते हुए', 'जब तकजीते असीसते' आदि। स्थितियों को उजागर करने में इनकी भाषा पूर्णतया सक्षम और सहज है।

इस भाषा में बोलचाल के कई स्तर दिखाई पड़ते हैं। पात्र का जो सामाजिक स्तर है, उसी के अनुसार उसकी भाषा का अंदाज़ है। शास्त्रीय शब्दों में इसे ही पात्रानुकूल भाषा कहते हैं। मसलन, नेताजी मुँह से कम और इशारों से ज्यादा बोलते हैं। सत्ताधारी व्यक्ति को बोलने की आवश्यकता कहाँ पड़ती है, जब तमाम लोग उसके इशारों पर नाचने को तैयार बैठे हों। कम बोलना अपने को कम उजागर करने का एक तरीका भी है। लोग जिसे कम जानते हैं, उससे भय भी खाते हैं। नेताजी इसी भय द्वारा लोगों पर राज करते हैं। चमचा बोलता है तो उसकी बात में खीझ उभरती है। वह अपने वाक्यों में उधार की सत्ता की धौंस जमाता है। उसकी बात में ऐसे अधिकार का गर्व झलकता है, जिस गर्व के वह लायक ही नहीं है। जैसे मंगतूराम और बस्ती के लोग विधायक से पीने के पानी और चापाकल की बात करते हैं तो उसका चमचा कहता है – "यही समय है विधायकजी के माथे पर चढ़ने का? तुमई साले सब, बेला-कुबेला कुछ नहीं देखते हो।"

पात्रों के अनुसार भाषा का अंदाज़ लेखिका के कौशल का सूचक है। उनका सूक्ष्म अवलोकन कहानी में बार-बार दिखता है। कम पढ़े-लिखे आदमी के बात का अंदाज़ या लहजा प्रसंग के अनुसार अलग-अलग होता है। मसलन जब वह परिचितों के साथ यानी अपने लोगों के साथ होता है, तब सहज होता है। यह सहजता उसकी भाषा में भी दिखती है। वही व्यक्ति जब किसी अनजान के अथवा बहुत प्रतिष्ठित आदमी के सामने होता है, तब वह असहज तथा सतर्क होता है। यह सतर्कता भी भाषा में बराबर नज़र

आती है। आप 'वैतरणी' कहानी में इसे देख सकते हैं – जब मंगतूराम विधायक के सामने फरियाद लेकर जाता है। उसकी अपनी बोली है, जो वह अपने लोगों के बीच सहजता से बोलता होगा। लेकिन विधायक के सामने आने पर उनसे उनकी भाषा में बात करने का प्रयास करता है। उसके संवाद में एक तनाव है – "कैसे तो अंदर से ईंट गहरा गई कि धीरे-धीरे पूरा पानी कीचड़ हो गया। ई चापाकल भी टूटा पड़ा है, कहीं कोई सुनवाई नहीं, सरकारी दफ्तर में अरज़ी देते-देते गोड़ टूट गए।" मंगतूराम की तमाम सतर्कता के बाद भी सहजता ने संध लगा दी है। भाषा और बोली गड्ढमड्ढ हो गई। मानक भाषा के मानक शब्दों के बीच 'ई' और 'गोड़', अरज़ी जैसे बोली के भेदस शब्द आ गए हैं। लेखिका ने इन शब्दों के प्रयोग से ही इस प्रसंग के तनाव की सफलतापूर्वक व्यंजना कर दी है।

इन्हीं शिल्पगत विशेषताओं से कहानी लैस है हालाँकि शिल्पगत विशेषताओं को मेहनत-मशक्कत से नहीं उभरा गया है, न ही इसे कहानी की मूल संवेदना पर हावी होने दिया गया है। बल्कि यों कहें कि कहानी की मूल संवेदना को उभारने में नीरा परमार की भाषा ने भरपूर साथ निभाया है। यह भी सच है कि शिल्पगत विशेषताओं द्वारा कहानी को सँवारने में नहीं बल्कि सहजता के साथ कहानी के उद्देश्य को, उसकी मूल संवेदना के साथ उकेरा गया है। कुल मिलाकर कहानी कहीं भी लचर या कमजोर नहीं बल्कि सहज ढंग से बड़ी बात कहने की क्षमता रखती है।

13-7 | k j k a k

नीरा परमार की कहानी 'वैतरणी' दलित समाज के जीवन की विडम्बना का बयान करती है। इसमें दलित बस्ती शहर से अलग-थलग श्मशान भूमि के पास बसी हुई है। इसमें गरीबी और अज्ञानता है। यहाँ तक कि पेयजल जैसी बुनियादी सुविधा का अभाव झेलने को ये विवश हैं। अपने इस बुनियादी अधिकार की माँग भी ये दबी जबान में करते हैं। एक बार इलाके में विधायक अपने बड़े भाई के दाह-संस्कार के लिए श्मशान आते हैं। तब डोम समाज मंगतूराम की अगुवाई में अपनी पीड़ा व्यक्त करता है, और बस्ती में एक सरकारी चापाकल गड़वाने की मिन्नत करता है। विधायक ने समस्या समाधान का आश्वासन दिया और इसके लिए एक लिखित अर्जी देने को कहा। कई दिनों के बाद मंगतूराम अपने लोगों के साथ विधायक की कोठी पर अर्जी देने पहुँचता है। उन्हें उनका वादा याद दिलाता है। विधायक अर्जी ले लेते हैं।

बस्ती के लोग खुश होकर चले जाते हैं। तभी विधायक की पत्नी पण्डित की सिफारिश करती हुई पण्डित जी के साथ आती हैं। पण्डितजी शुद्ध-अशुद्ध का भेद, जात-पात का भेद बनाए रखने के लिए और पत्नी की सुविधा के लिए अपने आँगन में चापाकल लगवाने का आग्रह करते हैं। साथ में वे विधायक के मृतक भाई की आत्मा की शांति के लिए दिए गए दान की वस्तुओं के बाद इस चापाकल को भी उसी श्रेणी का बताते हैं, जिससे उनके भाई को मोक्ष मिल सकता है। पण्डितजी द्वारा दिए गए इस प्रलोभन और विधायकजी के चिन्तन-मनन की मुद्रा के साथ ही कहानी का अंत हो जाता है।